



स्वप्रेम

स्वप्रेम

- डॉ० मोहनाथ मिश्र
- YOS-MIS



स्वप्रेम

स्वप्रेम

स्वप्रेम का शाब्दिक अर्थ है स्वयं से प्रेम। स्वयं से प्रेम का तात्पर्य है हमारे अवतरण/जन्म/धरती पर होने की सार्थकता। यह सार्थकता स्थापित कैसे होगी, हो जाए तो उसकी परिभाषा क्या होगी और इसका परिणाम/प्रतिफल और लाभ क्या होगा यह सामान्य प्रश्न है जो आध्यत्मिक चिन्तन का आधारभूत तत्व है। पर इसमें मैं बस एक प्रश्न और जोड़ना चाहता कि क्यों हमें स्वयं से प्रेम करना चाहिए? क्या यह एक नयी बात है या स्थापित सत्य है; सनातन चिन्तन का विषय है।

एक तरह से देखें तो स्वयं से प्रेम करना, सांसारिक दृष्टि से सबसे सरल कार्य है और हम सब मनुष्य रूप में इसके दावेदार होते हैं। सभी दावा करते कि वे स्वयं से प्रेम करते हैं। अपने हितों की रक्षा अपना लाभ, अपना ध्यान रखना और अपने को प्रोत्साहित, प्रायोजित, विम्बित करने का कार्य करते हैं। मुझे सामान्य जनों के साथ इसी प्रकार के उत्तर की अपेक्षा रहती और यही उत्तर मिलता है। परन्तु एक समय के बाद विषय-वस्तु की कसौटी पर, तथ्यों पर, तर्कों पर और उपलब्ध सनातन साहित्य के स्रोतों पर आधारित विषय के उद्घाटन और प्रकटीकरण के बाद यह बात निकलकर आती कि स्वयं से प्रेम करना एक कठिन कार्य है। व्यावहारिक रूप से किसी बात को जीवन में उतरना तो दूर सैद्धांतिक रूप से भी स्वयं से प्रेम करने की कसौटी पर स्वयं को आंकना कठिन लगने लगता और कई बार तो समय के बीत जाने का कष्ट भी प्रकट हो जाता है। इसलिये अच्छा है कि इस विषय को समझा जाए और फिर निर्णय करना कि स्वयं से प्रेम करु या नहीं का यह निर्णय लिया जाए।

मैंने समय बीत जाने की बात किया। इसका आशय हमारे अस्तित्व से है और हमारे जन्म से है। वृहत और विराट रूप से हमारी प्रकृति से है। हमारा जन्म/अवतरण हमारे अस्तित्व का (शारीरिक) प्रारम्भ होता है। इसमें प्रकृति तत्व है। कब, कहाँ, किस स्थान पर, किन परिस्थितियों में



स्वप्नेम

हमारा जन्म होता वह प्रकृति के अधीन होता और उसी आधार पर हमारा जीवन निर्भर करता है। यहीं से हमारी, हम सभी की विशिष्टताओं का सृजन भी होता है। इसे प्रकृति सुनिश्चित करती और हमें विशिष्ट, विलक्षण और स्पष्ट एकरूपता के रूप में गढ़ती है। धरती पर अब तक उपलब्ध ज्ञान, जिसे बोलचाल की भाषा में विज्ञान कहने का कार्य करते लोग, वह भी एक सीमा तक हमारी इन विशिष्टताओं को आज स्वीकार करती है। हमारे अंगूठे की विशिष्ट संरचना, इसका एक उत्तम उदाहरण है। प्रकृति ने प्रतिदर्श के रूप में यह बता दिया कि आप विशिष्ट हैं। अन्य जो विशिष्टताएँ हैं बस उन्हें समझना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखे तों विशिष्ट योनि (स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक), विशिष्ट माता-पिता के संतान के रूप में जन्म, विशिष्ट स्थान पर जन्म (जन्मभूमि का तत्व), विशिष्ट कालखंड में जन्म, विशिष्ट परिस्थिति में जन्म और उसके बाद इन सभी तत्वों से उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियों में जीवन का आगे चलना और उनमें हमारी संलिप्तता प्रमाणित करती है कि प्रत्येक मानव दूसरे से अलग और विशिष्ट होता है। जुड़वा बच्चे तक के जीवन अलग होते और उनके गर्भ से निकलकर पदार्पण करने के समय में जो स्वल्प अन्तर होता वो बीजरूप से जीवन-वृक्ष के बढ़ने के साथ अलग और विशिष्ट हो जाता। और क्या प्रमाण चाहिए अपने विशिष्ट होने का। यह एक सामान्य स्थिति है। इसमें जब हम और आप स्वयं का आकलन करते तो चाहे कितना भी मंथन कर लें निष्कर्ष यही निकलेगा कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट है। सनातन साहित्य, धार्मिक ग्रन्थ और परामनोविज्ञान ऐसे तथ्यों, उदाहरणों और तमाम लोगों के अध्ययनों/अनुभवों से भरा पड़ा है। पातंजली योग सूत्र, गरुड़-पुराण और तमाम अनुभव आश्रित तथ्य (उदाहरण के लिए स्वनामधन्य श्रीमती तृप्ति जयीन के ऐसे जुड़वा बच्चों पर किए गए अध्ययन जिसमें से एक आज उपलब्ध नहीं), इस बात को समझने के स्रोत हैं। धार्मिक साहित्य यह कहता है कि विधाता का कार्य प्रकृति और आयाम (धरती पर अस्तित्व तीसरा आयाम कहलाता) की संरचना के बाद उसके आगे का कार्य अपने ईश्वरीय तत्वों को दे देना होता है। ब्रह्मा को निर्माण का



स्वप्नेम

कार्य सौंप दिया गया हैं। यह उसी का निर्माण करते जो धरती पर जन्म लेकर अपने अनुभवों/सीखों के माध्यम से स्वयं का विकास करना चाहते। स्वयं के विकास से तात्पर्य है आत्म स्वरूप को ब्रह्म स्वरूप के अनुरूप पवित्र और प्रकाशमय बनाना। अपने संचित अनुभवों के आधार पर आत्म कि समहति से इसके स्वरूप का निर्धारण किया जाता कि आगामी जीवन में किन अनुभवों से क्या सीख मिलती है और विकास करना है। जो जितना धीर और वीर होता वह आत्म कठिन से कठिन परिस्थिति का समावेश कर अपने विकास को तीव्र करने की आकांक्षा से तदनुरूप जन्म लेने का निर्णय करता। ब्रह्मा का कार्य तदनुरूप विशिष्टताओं के साथ मानव का निर्माण करना होता है। एकबार निर्णय होने के बाद ब्रह्मा का कार्य समाप्त हो जाता जिसे वह स्वयं भी बदलने में सक्षम नहीं होते और इसीलिए हमारे सभी के जीवन में जन्मना जो दी हुई परिस्थिति लेकर हम आते उसे बदला नहीं जा सकता और यही हमें विशिष्ट बनाते। इसे ही कुछ लोग भाग्य, अदिष्ट आदि का नाम देते। परन्तु यह भाग्य या अदिष्ट स्वयं का निर्णय होता और ब्रह्मा तो मात्र पथ-प्रदर्शक रहते। मुख्य बात यह है कि जब हम स्वयं को जानने और स्वयं से प्रेम करने का प्रयास करते तभी यह सत्य पता चलता कि भाग्य नाम की कोई चीज नहीं है। यह निर्भरतापूर्ण बात इसलिए आती कि हम स्वयं के स्वभाव के अतिरिक्त कुछ और की अपेक्षा/कल्पना और संभाव्यता की खोज में लगे रहते। स्वयं के पूर्व के निर्णय के विरुद्ध कार्य करना चाहते। परामनोविज्ञान/दो जन्मों के बीच के अनुभवों के अध्ययनों और त्रिकालदर्शी स्वामियों के वचन के अनुरूप संचित कर्म में से इस जन्म की सीमित अवधि में अपने उत्थान और विकास हेतु पूर्व-निर्धारित आयोजना के तहत हम जीवन गढ़ते हैं और इसमें हमारी सहायता उच्च कोटि के महात्मनों द्वारा किया जाता है। तमाम साहित्य उपलब्ध हैं, जिनसे इसकी पुष्टि होती है। अनुभवाश्रित विवरण हैं चाहे वो चैनल के माध्यम से हों अथवा थेरापिष्ट के सहयोग से। निष्कर्ष एक समान है और इसे ही हम प्रारब्ध कहते हैं। इसलिए ब्रह्मा की लकीर को अकाट्य माना जाता है। पर बात धार्मिक दृष्टिकोण की हो रही थी तो ब्रह्मा के



स्वप्रेम

कार्य समापन के बाद पालनहार के रूप में विष्णुदेव रूपी ईश्वर प्रकट होते हैं। जैसे ही जीवन प्रारम्भ हुआ अब इसका संचालन विष्णु का कार्य है। इसलिए उनके स्वरूप को पालनहार के रूप में देखा जाता है। संकट, भ्रम, कष्ट के समय उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। यही उनका कार्य है। अहिल्या उद्धार, द्रौपदी की लज्जा रक्षा और प्रह्लाद की जीवन रक्षा इसके अनुपम उदाहरण हैं और यहाँ रहस्य है कि वे राम, कृष्ण अथवा विष्णु स्वरूप में प्रकट होते हैं। लक्ष्य मात्र प्रतिपालन है। युगधर्म के अनुरूप कुछ निर्धारित सत्य जिसे उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताओं के रूप में चिन्हित किया गया है जैसे मर्यादापुरुषोत्तम राम, योगेश्वर कृष्ण आदि विशेषण युक्त तथ्य यही स्पष्ट करते। यही विवशता भी है विष्णु रूपी विधाता के प्रतिनिधि ईश्वर का कि उन्हें अवतार लेना होता है। युगधर्म के अनुरूप स्वरूप और स्वभाव लेकर सशरीर प्रकट होना होता है। तभी हमारे सामने दशावतार की अवधारणा, तथ्य और आशा विद्यमान है। कलिकी अवतार की आशा है कि वे अवतरित होकर सारी चीजें ठीक कर देंगे। कालगणना के अनुरूप अभी समय है। इसलिए समष्टि समाधान के उपस्थिति होने के पूर्व हमें व्यक्तिपरक समाधान ढूँढना ही पड़ेगा और वह है स्वयं से प्रेम करना। यही माध्यम है और मार्ग है, जो हमें हमारी प्रकृति से, उच्च आत्मों से जोड़ती है और जीवन को सरल सुगम और स्वस्थ बनाती है।

समस्या तब खड़ी होती जब विष्णु अपने कार्यों के सम्पादन में महामाया रूपी अपने स्त्री स्वरूप की सहायता लेते हैं। महामाया हमारे जीवन में वो सभी परिस्थिति जब तब उपस्थित कर देती है माया का जिसमें उलझकर हम न केवल स्वयं के मूल अस्तित्व को विस्मृत कर देते बल्कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के मार्ग से भी विचलित हो जाते इस कारण से कर्मों की ऐसी श्रृंखला का स्वयं निर्माण कर लेते जिसे मायाजाल कहना उचित है। इस मायाजाल के कारण हम आगामी कर्मों का सृजन कर लेते जाने-अनजाने में जिसकारण हमारे आगामी कर्म सृजित हो जाते और संचित कर्म का भंडार और बड़ा हो जाता; जबकि



स्वप्रेम

इसे शून्य कर ईश्वरीय तत्व में समाहित होना परम लक्ष्य है, था और रहेगा। महामाया के भ्रमजाल से मुक्ति का मार्ग भी स्वयं से प्रेम करने का ही है। चीजें तभी साफ दिखती जब हम ज्ञान चक्षु खोलकर स्वयं का आकलन करें और तदनुरूप कर्म करें। प्रवृत्ति के दरवाजे तभी बन्द हो जाते और निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता। भोग तो छोड़िए मोक्ष तक की आंकाक्षा की प्रवृत्ति नहीं रखकर जो कार्य करने आए थे उसको पूरी तन्मयता से सम्पादित करना ही निवृत्ति है और ऐसा तभी संभव है जब हम स्वयं से प्रेम करना प्रारम्भ करें। मार्ग क्या है, जाना किस रास्ते है, यह जानना तभी संभव है जब स्वयं से प्रेम करे अन्यथा विचलन एक सामान्य बात है जो हम सबके साथ घटित होता रहता।

बस एक बात बची है धार्मिक कड़ी में और वह है आत्म के जीव रूप में प्रकट होने की नश्वरता को स्पष्ट दिशा देना।

जब हम सीमित कार्य करने के लक्ष्य के साथ अवतरित हुए हैं जिसे प्रारब्ध कहते हैं और प्रतिपालन का कार्य विष्णु को दिया गया तो क्या वह अनन्त काल तक इसका प्रतिपालन करेंगे यह संभव नहीं है। इसलिए यह प्राकृतिक नियम है कि जो जन्म लेगा, जिसका प्रादुर्भाव होगा, प्रकटीकरण होगा इस भौतिक जगत में उसका अन्त भी पूर्व से चिन्हित होगा। और यह कार्य शिव को सम्पन्न करना होता है। शिव इस कार्य को जन्म के साथ ही प्रारम्भ कर देते। सर्वप्रथम शिरस्थ ब्रह्मरिन्ध्र, अधियति मर्म स्थान से, सहस्रार से विराट स्वरूप के अमृत ज्ञान को, आज्ञाचक्र जो तीसरा नेत्र भी कहलाता और दोनों भावों के मध्य स्थान तक नीचे ले जाते। मानव की सम्पूर्ण प्रज्ञा, अवस्थिति यहाँ स्थिर हो जाती। जन्म होते ही, मातृत्व से विच्छेद होते ही आज्ञाचक्र के नीचे आते ही अपने भौतिक अस्तित्व का भान होने लगता, शिव के विनाशक तत्व के रूप में प्रकट हो जाता। भौतिक शरीर पंचभूतों से निर्मित है इसलिए पाँचों तत्व जीवन की सार्थकतापूर्ण उर्जा के रूप में नीचे की ओर प्रवाहित होने लगते। तो एक तरह से देखें तो आज्ञाचक्र का विन्दु ईश्वरीय ज्ञान के प्रति सजगता का मुख्य द्वार होता। जैसे ही इसमें



स्वप्रेम

पंचभूत अर्थात् (आकाश), समीर (वायु), पावक (अग्नि), जल, क्षिति (पृथ्वी) अपने गुणों के आधार पर भौतिक शरीर में समाविष्ट होने लगते मिलावट आरम्भ हो जाता और शिव अपने नीचे के कार्य हेतु अपने पुत्रों की सहायता लेने लगते। कार्तिकेय या मुरुगन कंठ में आकाश (शब्द) और हृदय में वायु (शब्द स्पर्श) को स्थापित कर देते और इस कार्य में वो अपनी भार्या की सहायता भी लेते। स्त्री तत्व की सहायता उसके गुणों के कारण लेनी होती है। नीचे का कार्य गणेश का होता और नाभिस्थान पर अनेक कारणों से अग्नि (शब्द, स्पर्श और स्वरूप) का स्थापन कर देते। इसी कारण से शरीर के आन्तरिक और वाह्य निर्दिष्ट कर्मों का सम्पादन इसी क्षेत्र से होता। क्षुधा मनुष्य के कर्म का आधार तत्व होता है। उसके ठीक नीचे जल (शब्द, स्पर्श, आकार और स्वाद) का समावेश किया जाता और दोनों गुप्तांगों के मध्य में पृथ्वी (शब्द, स्पर्श, आकार, स्वाद और गंध) तत्व को स्थापित करने का कार्य गणेश करते। चूँकि अमृत तत्व आज्ञाचक्र के द्वार पर ही रोक लिया जाता इसलिए भौतिक पंचतत्व रीढ़ की हड्डी के मार्ग से नीचे की यात्रा करते। यद्यपि इस क्रम में अनेक उर्जा केन्द्र बनते परन्तु मुख्य तथा सात ही उर्जा केन्द्र होते हैं और अमृत तत्व के अभाव में मूर्छित, सुसुप्तावस्था में रहते। बस एक मार्ग बचता जिससे इनका भेदन कर जीवन में मनुष्य स्वयं के विराट अस्तित्व तक पहुँच सके। स्वयं को जान सके और स्वयं से प्रेम करके वर्तमान जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर उसी तरह के आनन्द के साथ घर वापस जा सके जैसा कि स्नातक की डिग्री मिलने पर होती है। ओलम्पिक में स्वर्णपदक प्राप्त करने जैसा है यह कार्य।

और इस स्वयं से मिलने का यह कार्य अब हमें हमारे स्वयं के निर्णय पर होता। कार्य-स्वतंत्रता (Freewill) या कहें विचार स्वतंत्रता मानव में नैसर्गिक/प्राकृतिक बद्धत के रूप में आनुवांशिक गुण है वरना 98 प्रतिशत हम चिंपांजी ही हैं। और इसका एकमात्र मार्ग प्राणवायु है। हमारे भौतिक जीवन का आधार प्राणवायु है। सांसे रुकी जीवन समाप्त। पूरा अस्तित्व जब इसी पर टिका है तो यह चिन्तन आवश्यक है कि क्या



स्वप्रेम

सांसे मात्र जीवन का संचालन करती है या इसमें और कुछ रहस्य है? सांसे यदि भौतिक जीवन का आधार हैं तो यही सांसे स्वयं को जानने का मार्ग भी हैं। बस इसके लिए सांसो को नियंत्रित, परिवर्तित और परिवर्द्धित करने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक स्वसन अपने साथ योग के मूल रहस्य को साथ लेकर चलती हैं और जीवन को उसकी सीमा को निर्धारित करती है। और जब इनमें बदलाव किए जाते हैं, जब इनका उपयोग उद्देश्यपूर्ण ढंग से किया जाता है तो चमत्कार हो जाते हैं। स्वयं से मिलने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अब चूँकि यह अन्दर की यात्रा है इसलिए बाहर के दरवाजों को बन्द करना आवश्यक होता है। सबसे सरल मार्ग है मौन। कर्म, वचन और चिन्तन के स्तर पर भौतिक जगत की सम्पूर्ण मायापूर्ण व्यस्तता हमें मौन के संकल्प के मार्ग पर प्रशस्त होने से हजार तरीके से रोकती हैं। मनसा, बचसा और कर्मना महामाया के प्रभाव में रहता और हम मायावी (वाहय) जगत में इससे इतना प्रभावित रहते कि हमारा पूरा अस्तित्व ही आंदोलित-उद्वेलित रहता। ऐसे में स्वयं से मिलना संभव नहीं है प्रेम करना तो दूर की बात है।

इसलिए मौन का प्रभावी प्रयास व अभ्यास स्वयं से प्रेम करने की पहली कड़ी है। सम्पूर्ण योगाभ्यास है। और इसकी सफलता हेतु किसी उन्नत विज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है तो बस छोटी-छोटी बातों को समझने और आत्मसात करने की है। निर्णय कर लें तो शब्द (वचन) से मौन का संकल्प लिया जा सकता है, आसानी से लोग लेते हैं। छोटी-मोटी कठिनाईयाँ जो संभावित हैं आपके मौन (शब्द से) धारण करने से उन्हें पुर्विनुमान के आधार पर हल कर लें और घोषित कर दें कि आगामी अमुक स्थान तक मेरा मौन का निर्णय है। पूरी दुनियाँ चलती रहेगी यथावत और आप भी स्वतंत्र रूप से इसे अपना सकते। अब बात आती है कर्म की तो जब मौन धारण करना है तो आपके नियंत्रण में जो कर्म चिन्हित है उनका वैकल्पिक समाधान कर स्थिर हुआ जा सकता है। जिसपर आपका नियंत्रण नहीं है वैसे कर्मों का ही उपयोग कर स्वयं से मिलने की यात्रा प्रारम्भ किया जाना है। जैसे



स्वप्रेम

स्वांस की प्रक्रिया, आँखों का झपकना इत्यादि। पहली बात स्थिर होने की। इसके लिए शब्द-सम्वाद प्रकटीकरण पर अंकुश का निर्णय हो गया तो सजगतापूर्ण ढंग क्या होता है। आसन और मुद्रा का उपयोग करना। सबसे सरल आसन है सुखासन/पद्मासन। सबसे सरल मुद्रा कौन सी हो सकती है ज्ञान-मुद्रा अथवा शक्तिपात मुद्रा। यह भी अभ्यास के अधीन है तो दोनों हाथों को अपनी गोद में एक-दूसरे पर रख लेना। इतना अवश्य जरूरी है कि स्थिरता के साथ रीढ़ की हड्डी सीधी रखें। इसका तात्पर्य यह है कि आप अपने शरीर के उर्जा-क्रम को मार्ग प्रदान कर रहे। दूसरा कोई आसन इसमें बाधा उत्पन्न करेगी इसलिए यह विकल्परहित विषय है। अब सहजता से आँखों को बन्द कर लें बिना किसी वाह्य बल का प्रयोग किए। इस स्थिति में भी वाह्य जगत से सम्पर्क की एक महत्वपूर्ण कड़ी समाप्त हो गयी। अब ये आँखें तभी खुलेंगी जब आप स्वयं से मिलकर उसके आनन्द के साथ बाहर आने का निर्णय करेंगे। और मेरा व्यक्तिगत अनुभव यह रहा है लोगों के साथ कि इस आनन्द की प्राप्ति के बाद कई लोग घंटों तक वैसी ही स्थिति में रहना पसंद करते। एक अभिभावक ने तो अपनी छटपटाहट में मुझे उस सत्र के बाद कई बार पूछा कि मेरी बेटी वापस आएगी कि उधर ही रह जाएगी। और यह हास्य का विषय नहीं है। अनुभव की बात है। खुद से मिलने के बाद अधिकांश लोग वहीं रहना चाहते। स्वनामधन्य श्रीमती राशी शर्मा जब भी मुझे अनेक अवसरों पर पिछले दसक में पूर्व जन्मों की यात्रा पर अथवा दो जन्मों के बीच की यात्रा में प्रेममयी प्रकाश के केन्द्र तक जाने हेतु सहायक हुईं, मैंने प्रत्येक बार उनके एक ही अनुरोध किया कि कुछ देर और मुझे यही छोड़ दें। स्वयं से मिलना यद्यपि ऐसे किसी यात्रा की आरंभिक कड़ी है परन्तु लक्ष्य तो अजस्र ऊर्जा स्रोत के रूप में हमारे प्रेम-प्रकाश से मिलना और उसमें, उसी में समाहित होने का ही है। हमारी अपूर्णता एकमात्र बाधक है और उसे दूर करने का मार्ग वर्णित करने का प्रयास कर रहा मैं।



स्वप्रेम

सजगतापूर्ण स्थिर स्थिति में अगला संकट बचता है मन की शान्ति/स्थिरता। यह हमारे इन्द्रियों से प्रारम्भ होता जिसमें से अब तक हमने मुखवृत्ति से मुक्ति पायी है। हमारे कान सुन रहे। बाहर के जगत की स्वर आधारित किसी भी हलचल/विघटन का सदुपयोग हम हमारी एकाग्रता के लिए ही कर सकते। प्रत्येक ध्वनि हमें गहरे जाने में तब सहायक रूप से उपस्थित होता है जब हम मन में ऐसा सोचते हैं। व्यावहारिक रूप से यदि यह सम्भव नहीं है तो संगीत का उपयोग किया जा सकता है। प्रथम विकल्प है ॐ का लगातार उच्चारण। यही इस तीसरे आयाम की मूल ध्वनि अथवा स्वर है जो 432 HZ का है। अब गहराई की आवश्यकता और उद्देश्य के अनुरूप बीटा स्तर (जाग्रत अवस्था) से मुक्ति हेतु 432 HZ का थीटा अथवा डेल्टा स्तर का संगीत इस कार्य में पूर्णतः सहायक है यह अनुभव आश्रित तथ्य है। सनातन परम्परा में शंखनाद और ॐ का उच्चारण प्रत्येक कर्म के आदि और अन्त में बन्ध के रूप में रखा गया है उसका यही कारण है। मंत्र के ध्वनि तरंगों को सार्थक रूप से उपयोग करने और उसको तन्मयता से कर सकने (महाभारत का युद्ध सर्वोत्तम उदहारण है) हेतु इनका उपयोग जगत प्रसिद्ध है। तत्काल निर्णयात्मक रूप से इस अवस्था में जाने हेतु 432 HZ के संगीत का उपयोग जहाँ बाह्य ध्वनि से मुक्ति प्रदान करती वहीं अन्तस्-यात्रा में सहायक होकर मार्ग प्रशस्त करती है। यद्यपि अन्दर चले जाने पर इनका महत्व नगण्य होता है कि आपने किन साधनों का उपयोग किया।

अगली बात मन की आती है। आप जैसी ही यहाँ तक की यात्रा कर लेते हैं मन की ज्वाला और प्रज्वलित हो जाती है। मन के तीव्रगामी मार्ग पर अनन्त विचारों की, अगणित भावनाओं की, त्वरित सोच की तीव्र आँधी चलने लगती है। और इसका प्रभाव दिखने लगता है। इसके अत्यंत प्रज्वलित हो जाने का कारण हमारे प्रयास ही होते हैं। आँख और कान के मार्ग को अवरुद्ध किए जाने के कारण मन में विचारों की एकात्मकता बढ़ जाती है।



स्वप्रेम

इससे आगे निकलने का बहुत सहज मार्ग है। अपने विचारों को विभक्त करें। उन्हें अभी आने दें और जाने दें बस कुछ क्षणों तक भूतकालिक विचार और भविष्य के विचार के रूप में उनके आने को विभक्त करने का कार्य करें। अब भूतकालिक विचारों पर चिन्तन करें। वास्तव में पीछे भूतकाल में जो हो चुका। मन/वचन/कर्म के रूप में आपके साथ जो कुछ घटित हुआ, वो तो हो चुका। परिस्कार और स्मरण आगामी मार्ग है अतः अगर ऐसे विचारों में ये दोनो होने हैं तो उसपर विचार करें। शेष भूत को अपने मस्तिष्क के बायें पृष्ठ भाग से आकाशतत्व को सौंप दें। जैसे किसी को आप उपहार देते हैं वैसे ही ब्रह्माण्ड की शक्तियों को सदासदा के लिए उन्हें सौंप दे। भारमुक्त होने का प्रयास करें। परिस्कार और स्मरण रखने योग्य भूतकालिक स्मृति के पुनः पुनः आगमन को तत्काल के लिए ब्रह्माण्डीय शक्तियों को बैंक (विश्वासयोग्य मानकर) का लाकर मानकर तत्काल के लिए सौंप दें। बोझ कम करें। भूतकाल से, उसमें घटित घटना के मन पर पड़नेवाले अच्छे-बुरे प्रभाव अर्थात् मनोभावों से आपकी मुक्ति का यह सरल मार्ग है।

दूसरे ओर भविष्य से मुक्ति का मार्ग अत्यन्त सरल है। अपने तार्किक मस्तिष्क में एक सोच लायें कि जो भविष्य के गर्भ में है, अभी घटित ही नहीं हुआ उससे आज मैं बिल्कुल प्रभावित नहीं हूँ। भविष्य रचना का विषय है। जैसा मैं करूँगा अथवा कर चुका भविष्य का वैसा ही स्वरूप मेरे सामने आएगा तो फिर इसको साथ लेकर चलना व्यर्थ है। और पुनः एकबार अपने ऐसे सभी आनेवाले भविष्य के विचार-आँधी को ब्रह्माण्डीय शक्तियों को, प्रकृति को सौंप दे। अब जो बचा वो आपका वर्तमान है। आप स्व में स्थिर होने के बिन्दु पर हैं। खुद से मिलकर ही तो उससे प्रेम-प्रदर्शन संभव है। और अब आप स्वयं से मिलने के द्वार पर खड़े हैं। यहाँ तक की यात्रा का यह एकमात्र मार्ग नहीं है। अन्य अनेक मार्ग हैं, जिनके द्वारा स्वयं रूपी द्वारमार्ग के मुँहाने तक पहुँचा जा सकता है लोग पहुँचते रहे हैं। आप स्वयं को विचार-विकार मुक्त करने हेतु उसे स्वच्छ करने का मानसिक अभ्यास कर सकते, स्वयं को



स्वप्रेम

मुक्त अवस्था नामक सरोवर में ले जा सकते, अपनी बन्धनमुक्ति हेतु दूसरों की भाव-सेवा का मार्ग यथा “टांगलेन” का अभ्यास कर सकते। कुछ भी करके इस स्थिति तक आ गये तब बची एक स्वैच्छिक क्रिया स्वसन की जो जीवन का आधार है। स्वसन को प्राण-वायु इसलिए कहा जाता है कि जीव और आत्म जीवात्मा मिलकर बना है उसमें प्रत्येक साँस पर आरूढ़ होकर प्राण तत्व जीवन को निरन्तरता में बनाए रखती है। यह ब्रह्माण्ड, तीसरे आयाम और प्रकृति का यथा-आयोजन है कि टुकड़े-टुकड़े में प्राण सांसो के रथ पर चढ़कर जीव को आत्मा से जोड़े रखता है और जब यह प्रक्रिया रुकती है तो शरीर (जीव) का अन्त हो जाता है। एक और बात महत्वपूर्ण यह है कि प्रत्येक निःस्वास शरीर के विकारों को दयामयी प्रकृति को सौंपकर जीवन की निरन्तरता का, कर्म-निष्पादन का कार्य (कर्म) सम्पन्न करता है। स्पष्टतः यह तथ्य उद्घाटित हुआ कि प्रत्येक स्वांस अपने साथ प्राणदायी, उपयोगी और आवश्यक सकारात्मक प्रकृति उर्जा को अन्दर लेती है और प्रत्येक निःस्वास शरीर के विकार को बाहर करता है। ये विकार भौतिक शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में अवस्थित होते हैं। असंतुलित होनेपर मनोविकार के रूप में सकेंद्रित होते ही शारीरिक स्तर पर व्याधि, कष्ट, रोग को स्थान बनाने देते हैं। रोक-शोक के घनीभूत होने पर शरीर प्रभावित होगा और जागृत अवस्था और स्वप्न अवस्था में कष्टदायी होता जाता है।

एक सरल बात क्या है कि प्राकृतिक रूप से कर्म-सम्पादन हेतु शरीर को बलशाली बनाया गया है। शरीर का सौष्ठव, उसकी शक्ति के मापदंड पर है परन्तु हमें हमारे विकारों के घनीभूत होने के कारण कई बार हम स्वयं ही जिम्मेदार होते कि इस शरीर को हम कमजोर कर लेते। बलशाली होना था हम अपने प्रयासों से जाने-अनजाने उसे कमजोर कर लेते। कई ऐसी वस्तुओं का उपभोग करते जो हानिकारक होता, कम-से-कम लाभदायक तो नहीं होता। उपभोग, विशेषकर भोजन के रूप में उपभोग के तीन स्तर होते जो तीनों शरीर को प्रभावित करते। मान



स्वप्रेम

लीजिए कुछ खाद्य पदार्थ स्वाद के स्तर पर अच्छा लगा तो हमने उसे अनियंत्रित प्राथमिकता में उपभोग कर लिया। दूसरा, क्षुधा की शांति के उपरांत भी किसी इच्छा या विवशता में कुछ भी ऐसा खाया जो उपयोगी नहीं था। उपयोगिता का अंतिम स्तर सामान्य शब्दों में शरीर में लगने से है। जो खाया उसका कितना अंश सत्व के रूप में शरीर के विकास, रख-रखाव और संचालन हेतु प्रक्युत हुआ भोजन उसी सीमा तक उपयोगी है। अन्यथा अन्दर किया गया सब व्यर्थ है। स्वाद, क्षुधा आपके शरीर भौतिक/सूक्ष्म और कारण शरीर के सन्दर्भ में बस इतना ही महत्व रखता। भोजन की मात्रात्मकता के बाद गुणात्मकता महत्वपूर्ण होती जो हमें मनोविकार से बचाती है इसलिए भोजन को इसी दृष्टि से देखकर उसका चयन करना स्वयं से प्रेम करना है। सजगता यह रखनी चाहिए कि जीवन एक Prepaid breathing voucher है। और उसको जितने इन्धन की जरूरत है यह निर्णय हमारे हाथ में है। इसलिए जो स्वयं से प्रेम करने को प्रस्तुत होगा उसे यह समझना ही होगा। साथ ही, ऐसे किसी भी वस्तु के उपभोग पर भी स्वयंमेव अंकुशित हो जाएगा। एक और दूसरी बात यह है कि हमारे शरीर के बलशाली बनाए रखने की आवश्यकता के साथ मन की कोमलता भी उतनी ही आवश्यक बात है। शास्त्रों में भी मन को चंद्रमा से जोड़ा गया है। कोमलता और तरलता जैसे भाव मन के नैसर्गिक गुण हैं। मन ही मष्तिस्क को आधार प्रदान करता है। अतः यदि अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि हेतु, अस्थायी भौतिक लाभ हेतु, अहंकार रूपी राक्षस की पुष्टि हेतु हमने अपने मन को दूषित कर रखा है तो उसका प्रतिफल कष्टदायी है। इस मन को चिन्तन का जब आधार मिलता और इसकी कोमलता कठोरता में बदल जाती तो पश्चाताप, ग्लानि, दुविधा, तनाव आदि विकार अपना स्थान बना लेते और स्थायी रूप से निवास कर लेते। अतः इसका स्थायी समाधान यही है कि मन को कोमलता और तरलता के मूल स्तर पर रखा जाए। और अगर ऐसा मानव प्रजाति कर ले तो मन-मष्तिस्क के प्रभाव से जो मानसिक और शारीरिक कष्ट दूसरों को वो देता वो सारे अर्थहीन हो जाएंगे और वो उससे विलग हो जाएगा। कोई भी मानव स्वयं से मिलकर



स्वप्रेम

ऐसे कोई कर्म, कर ही जाएगा। सारे अपराध बन्द हो जाएंगे, शब्द-दोष दूर हो जाएंगे, संग्रह-दोष, प्रताड़ना दोष और ऐसे सभी दोष सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाएंगे।

निष्कर्ष यह है कि शरीर को बलशाली और मन को तरल-सरल-कोमल बनाना प्रकृति की मूल संरचना से तालमेल विठाना है और यही स्वयं से प्रेम करना है। इस हेतु स्वांस के आरोह-अवरोह का प्रभावी उपयोग इसी उपर्युक्त अवधारणा से करना है। आरंभिक रूप से यह कार्य वर्तमान से प्रारम्भ करना है और चूंकि प्रत्येक दिन हमारी वृद्धि होती है। हमारे अस्तित्व का सामना अच्छी-बुरी चीजों से होती है तो दैनिक स्तर पर हम अपने को बदला हुआ महसूस करते हैं। हमारी भावनाएँ और शरीर की शक्ति यथा संशोधित कर हमारे अस्तित्व का नव निर्माण करती है। इसिलए घेरंडसंहिता अपने यौगिक क्रियाओं के वर्णन के साथ आयु-सीमा को चिन्हित कर निर्धारित करती है। जीवन के चतुष्पाद अवस्था में किस वय में कौन सी यौगिक क्रिया का निषेध व सुझाव है यह इस ग्रन्थ को महान बनाता है। पातंजली योग सूत्र जीवन की निरन्तरता को प्रति-प्रसाव के रूप में अपने चौथे अध्याय के अन्तिम सूत्र तक अनेक स्थान पर वर्णित करती है। इसका रहस्थ भी यही है कि चूंकि हम प्रत्येक दिन/वर्ष/जीवन/पुनर्जन्म सहित) बदलते रहते हैं तो हमें तदनुसार परिवर्तनयुक्त कर्म करने होंगे। और परिवर्तन की बात आती है तो यह भौतिक चराचर प्रकृति में बदलाव मूलक तत्व है। चूंकि सम्पूर्ण भौतिक जगत उर्जा के अनेकानेक स्तर का प्रकटीकरण मात्र है इसिलए इसे बदलकर प्रकृति प्रत्येक क्षण यह संदेश देती कि महामाया के प्रभाव में यदि मानव किसी बदलाव को रोकने की चेष्टा करेगा तो वो अन्ततः व्यर्थ सिद्ध होगा। परिवर्तन और उसकी परिणति जन्म-मृत्यु के रूप में सामने आनी ही है। यही होता रहा है।

यहाँ यह समझना जरूरी है कि मृत्यु का सत्य क्या है। मृत्यु उसी की होती है जो जन्मता है। जन्मता कौन है जो जीव है। उसको संरक्षण और अनुभव प्राप्त करने और उस अनुभव को संग्रहित करने हेतु आत्म



स्वप्रेम

तत्व साथ रहता है। तभी हमें जीवात्मा की उपाधि मिली है और इसी सीमा तक अल्पत्व के कारण हम ईश्वरीय तत्व से भिन्न हैं। अब स्वयं की खोज में जब अन्दर की यात्रा के लिए प्रस्तुत होते हैं तो पारिभाषिक रूप से आत्म तत्व को जानना हमारा अधिकार बनाता है। अष्टावक्र महागीता आत्म का परिचय छः उपाधियों से देता है, :-

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निशप्रपंचम् निरामयम्।

आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः॥

जो आप हैं वो शुद्धता से परिपूर्ण है। बौद्धिक रूप से सजग है, सबका प्रिय है, उसमें पूर्णता है, उसके अन्तः में प्रपंच है ही नहीं और वो स्वस्थचित्त है अर्थात् विकार रहित है। यह हमारे अस्तित्व की, हमारे मूल की, हमारे स्वयं की परिभाषा है। और इस परिभाषा के बाहर जो कुछ है वो हमारा अस्थायी तत्व हैं वही जन्मा है और उसी की नश्वरता है। उसी को पार करके आत्म तक की यात्रा लक्ष्य भी है और रास्ता भी है।

इस दी हुई स्थिति में जब अन्दर की यात्रा का निर्णय कर स्वांस के द्वारा सकारात्मकता को हम अन्दर लेते हैं जिसे प्राणवायु कहते हैं और विकार को निःस्वास द्वारा छोड़ते हैं तो सारे द्वार खुलने लगते हैं। अब बस करना ये है कि अपनी जाग्रत चेतना के रथ पर आरुढ़कर अपनी अन्दर आती हुई साँस को शरीर के प्रत्येक अंग तक पहुंचाना है। पैर के तलवे से प्रारम्भ करें और परिकल्पना करें कि आपका स्वांस जिस प्राकृतिक/ब्रह्माण्डीय प्राण उर्जा को प्रत्येक चलती सांसों के साथ ला रहा वो आपके अंग विशेष को उसकी मूल प्रकृति के अनुरूप बना रही। उसको शुद्ध, विद्वान, प्रिय, पूर्ण (शक्तिशाली), प्रपंचरहित और निरोग बना रही है तभी तो जीव का तादम्य आत्मा के साथ होगा। ऐसा करने पर शरीर तेजोमय, प्रकाशवान, पारदर्शी उर्जा स्रोत के रूप में प्रकट होगा। धीरे-धीरे सांसों की प्रत्येक गति के साथ शरीर के प्रत्येक अंग पर नख से शिख तक, पैर के तलवे से लेकर मस्तिष्क के उपरी भाग तक अपनी ही सांसों के द्वारा आप उसे ऐसा परिवर्तित होता हुआ देख सकते। कर सकते।



स्वप्रेम

बस धैर्य और विश्वास बनाए रखना है। और जहाँ कहीं भी रोग-शोक के घनीभूत होने का अनुभव हो या पूर्व से पता हो, उस स्थान पर तब तक सांसो की सकारात्मक उर्जा को धैर्यपूर्वक कार्य करने दें जब तक व्याधियों से मुक्त होने का निश्चयात्मक आभास आपको मिल नहीं जाता है। और जैसे जो आप कंठ कूप के ऊपर अपने मस्तिष्क क्षेत्र में पहुँचते हैं वहाँ बल के बदले कोमलता को स्थान देना है। सारी विकट भावनाएं मनोगंथि को अपने बन्धन में जकड़कर रखे हुए हैं उसे निस्वास के द्वारा प्रकृति को, ब्रह्माण्ड को सौंपते जाएं। आपका मनो-मस्तिष्क कोमलता और तरलता से परिपूर्ण हो जाएगा और इसी क्षण आपको आपसे मुलाकात हो जाएगी। उस अवस्था में आपको आपके सभी अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर मिल जाएंगे और जब आप वापस आएंगे तो मन-कर्म-वचन से आप वही करेंगे जो आपको स्वयं से प्रेम करने के बाद करना चाहिए। निश्चित रूप से यह कार्य व्यक्तिगत है परन्तु इसका प्रभाव समग्र रूप से पूरे जीव-अस्तित्व पर पड़ता है। जब प्रत्येक व्यक्ति का स्वयं से प्रेम हो तो पूरा भौतिक जगत इससे एक अलग की दुनिया का नव-निर्माण करेगा जो प्रकृति के अनुकूल होगा। जीव-हितकारी होगा। यही अंतिम परिणति है चाहे जब हो।

बस अब एक प्रश्न बचता है जिसे विवेचित करना आवश्यक है। अभी जिस प्रक्रिया को स्वयं से प्रेम करने तक की सीढ़ी/मार्ग मैंने बताया क्या वो एकमात्र मार्ग है या अन्य विकल्प भी उपलब्ध है। तो कहना ये कि एक नहीं अनेक विकल्प हैं। यहाँ हम एक-दो विकल्पों की और चर्चा करते हैं। क्रियाएँ एक सहज विकल्प है। उर्जा केन्द्रों यथा चक्र की उर्जा को संतुलित करना मतलब कुण्डलनी साधना (यदि ऐसा करने की पात्रता आप में है) अन्य विकल्पों के रूप में उपलब्ध हैं। अवतारी पुरुषों में से मात्र श्रीरामचंद्र जी जिन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम बनना था, उनकी शिक्षा का पाठ्य उपलब्ध है। श्री राम को सबसे कठिन कार्य करने थे और मर्यादा और पुरुष तत्व की उत्तमता का प्रतिपादन करना था इसलिए गुरु वशिष्ठ ने उसी प्रकार की शिक्षा दी। उसमें अन्य यौगिक क्रियाओं के पूर्णता के



स्वप्रेम

रूप में 'लय योग' जिसमें पंचभूत तत्वों के विखंडीकरण के उपरान्त स्वयं को तेजोमय प्रकाश में स्थिर करने का वर्णन है, योग क्रियाओं की चरम परिणति है। योग का अर्थ ही जोड़ना होता है और अपने मूल (स्वयं) से लयबद्ध होने की शिक्षा उसमें दी गयी है जिसे अपनाया जा सकता है। इसके लिए अपने स्वसन को अपनी चेतना/अस्तित्व के साथ नाद ब्रह्म से आकाश तत्व तक उपर जाने की गति प्रदान कर जीवन के घटाकाश से उपर, ब्रह्माण्ड में स्थापित कर स्वयं से परिचित हुआ जा सकता है। इसके आरंभिक कल्प के रूप में समय और वय (उम्र) के अनुरूप स्वसन आधारित अनेक योग क्रियाएँ अनुभवी गुरु के सानिध्य में किया जाना श्रेयष्कर है। उदहारण के लिए भ्रामरी, अनुलोम-विलोम, भस्तिका जैसी योग क्रियाएँ गिनायी जा सकती हैं। इनकी कोई अन्त सुचि नहीं है। स्वयं से परिचय होते ही स्वयं से प्रेम आरम्भ हो जाता है और यही उद्देश्य है।


दूसरी ओर उर्जाचक्रों के संतुलन द्वारा भी स्वयं से परिचय का मार्ग उपलब्ध है। बीजमंत्रों के तरंगों और उर्जा केन्द्रों की अन्य विशिष्टताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए सुसुप्त उर्जा को संचरित और संतुलित किया जाना एक मानक प्रक्रिया है जिससे मानव आत्म परिचय और आत्म-प्रेम के लक्ष्य तक पहुँच सकता है, पहुँचता रहा है। इसमें एक बड़ी बात यह है कि प्रारब्ध कर्मों का संचित स्वरूप ही संस्कार के रूप में शरीर के तीनों स्वरूप में सन्निहित रहता है उसे उसका भेदन करना मूलाधार में सबसे कठिन होता क्योंकि संस्कारगत व्याधि बीजरूप में विद्धमान रहता इसलिए इस प्रक्रिया को दैनिक स्तर पर जीवन में तब तक अनवरत करने की जरूरत होती है जबतक आज्ञाचक्र के उपर जाने की स्थिति न बन जाए और इसी को कुंडलिनी शक्ति जागरण या श्री दिग्ध्या की ज्ञान प्राप्ति कहते हैं। यहाँ महामाया का जाल/भ्रम/बन्धन अप्रभावी हो जाता है। मूलाधार को संतुलित करना संस्कारों की सघनता के कारण इसलिए कठिन होता है कि मूलाधार पर पृथ्वी तत्व का वास होता है और पृथ्वी तत्व अपने में पांचों तत्व का संकेन्द्रण करके रखने



स्वप्रेम

के कारण प्रवृत्तिमूलक होती है। प्रवृत्तिमूलक होने का तात्पर्य है आकाश, स्वर, स्वरूप, स्वाद और गन्ध से प्रभावित भौतिक आकर्षणों में से किसी न किसी तत्व का जीवन में प्रकट हो जाना। महामाया यहाँ अपनी सम्पूर्णता से उपस्थित रहती जो तत्व विखंडन को कठिन बना देती। परन्तु यह मार्ग त्वरित रूप से उर्जा-प्रवाह को सुनिश्चित करता है। बस संकल्पित होने की आवश्यकता रहती है।

जीवन गृहस्थ का हो या स्वतंत्र स्वामी का, स्वयं से परिचय और स्वयं से प्रेम का तत्व भाव रूप में हमारे हृदय में, अनाहत पर स्थिर रहता है जो स्वयं से प्रेम के प्रारम्भ का अन्त चराचर भौतिक प्रकृति की शेष सभी उर्जा से, मानव से, जीवों से बिना किसी शर्त के अजस्र प्रेम करने पर जाकर समाप्त होती है। प्रत्येक जीवन का यही लक्ष्य है। सफलता सुनिश्चित है। बस प्रयास करने की आवश्यकता है। इसी अवधारणा और शुभकामना के साथ कि हम-सबका स्वयं से प्रेम करने का मार्ग प्रशस्त हो मैं इस कथन को अभी संक्षिप्त करता हूँ।


28/09/2021
मोहनाथ मिश्र
YOS-MIS